अवध लॉ कॉलेज, बाराबंकी

क्लास नोट्स

विधिशास्त्र (I) - विधिक सिद्धांत

LL.B. - 3 yrs. III Semester & B.A. LL.B. - 5 yrs. V Semester

Unit - 1 (इकाई - 1)

इकाई - 1

परिभाषा, प्रकृति एवं विस्तार

सामान्य अर्थ में 'विधिशास्त्र' आंग्ल भाषा के शब्द ''जूरिस्प्रूडेंस'' (Jurisprudence) शब्द का हिंदी रूपांतर है, जो दो शब्द युग्मों 'जूरिस' (Juris) और 'प्रूडेंशिया' (Prudentia) से मिलकर बना है। शब्द 'जूरिस' का अर्थ 'विधि' और 'प्रूडेंशिया' का अर्थ 'ज्ञान' से है। अत: 'विधिशास्त्र' अर्थात 'जूरिस्प्रूडेंस' का अर्थ **'विधि के ज्ञान'** से है।

विधिशास्त्र की सार्वभौमिक परिभाषा दिया जाना अत्यधिक कठिन कार्य है, क्योंकि यह विभिन्न समय-काल और विधिशास्त्रियों के ''विधि'' और ''ज्ञान'' की परिभाषा के अनुसार अलग-अलग रही है। अत: विधिशास्त्र जिस अर्थ का बोध कराता है, वह एक विकास क्रम का परिणाम है। ऐतिहासिक दृष्टिकोण में विधिशास्त्र की उत्पत्ति रोमन विधिक प्रणाली से मानी जाती है।

महान रोमन विधिशास्त्री **अल्पियन** ने विधिशास्त्र को ''दैवीय और मानवीय बातों का ज्ञान'' (The Knowledge of thing's divine and human) तथा ''सही और गलत का विज्ञान'' (The science of right and wrong) के रूप में परिभाषित किया है, जबकि एक अन्य विधिशास्त्री **पौलस** ने विधिशास्त्र को इस रूप में ग्रहण किया कि ''विधि नियम से अनुमित नहीं की जानी है, बल्कि नियम को विधि से अनुमित किया जाना है।'' विधि एवं विधिशास्त्र की इन विचारधाराओं ने परवर्ती विधिशास्त्रियों को 'विधिशास्त्र' के निर्वचन का आधार प्रदान किया और **हॉब्स, ब्लैकस्टोन, बेंथम, ऑस्टिन, हॉलैंड, सामंड, प्रो. एलेन** इत्यादि विधिशास्त्रियों ने उत्तरवर्तीकाल में विधिशास्त्र को क्रमश: आधुनिक नाम दिया।

वास्तव में राजतंत्र एवं लोकतंत्र की विश्वव्यापी अवधारणा ने विधिशास्त्र के अध्ययन क्षेत्र एवं इसकी विषय-वस्तु को भी प्रभावित किया। अस्तु प्रारंभिक विधिशास्त्रीय विचारधारा राजतंत्रीय संकल्पना पर आधारित होते हुए ईश्वरीय शक्ति (प्रकृति) से उद्‌भूत राजतंत्र एवं जनता अर्थात शासक एवं शासित पर केंद्रित रही तथा 'विधि एवं नैतिकता' के सम्मिलन पर विधिशास्त्रीय विवेचना की गई किंतु जैसे-जैसे लोकतांत्रिकता का संचार एवं विकास विश्व पटल पर हुआ विधि की आधुनिक परिभाषा के विकास के साथ-साथ विधिशास्त्रीय विवेचना एवं संकल्पना भी विकसित एवं प्रस्थापित हुई, जिनकी विस्तृत विवेचना विधिशास्त्रीय विचारधारा की विभिन्न शाखाओं के अध्ययन में की जाएगी।

संक्षेपत: विभिन्न विधिशास्त्रियों ने विधिशास्त्र एवं विधि को निम्न रूपों में परिभाषित किया है-

- ''विधिशास्त्र दैवीय और मानवीय बातों का ज्ञान.....सही और गलत का विज्ञान (Science of Just and Unjust) है।'' **—अल्पियन**
- ''विधिशास्त्र विधि का नेत्र है।'' **—लास्की**
- ''विधिशास्त्र मानव स्थापित (निश्चयात्मक) विधि का दर्शन है। यह दो प्रकार का होता है सामान्य विधिशास्त्र एवं विशिष्ट विधिशास्त्र। विधिशास्त्र का विज्ञान निश्चयात्मक विधि से संबंधित है। विधि की अच्छाई और बुराई से विधिशास्त्र का कोई सरोकार नहीं है।'' **—ऑस्टिन**
- ''विधिशास्त्र विधि का विज्ञान है यह तीन प्रकार का होता है-व्याख्यात्मक, विधिक इतिहास एवं विधान विज्ञान।'' **—सामंड**
- ''विधिशास्त्र के तीन प्रभाग हैं—विश्लेषणात्मक, ऐतिहासिक और नैतिक।'' **—सामंड**
- ''विधिशास्त्र नियमों की एक व्यवस्था है।'' **—एच.एल.ए. हार्ट**
- ''विधिशास्त्र विध्यात्मक विधि का प्रारूपक विज्ञान है। (Jurisprudence is Formal Science of positive law)। यह रचनात्मक विधि का रीतिबद्ध विज्ञान है।'' **-हॉलैंड**
- ''विधिशास्त्र विधि के आधारभूत सिद्धांतों का वैज्ञानिक विश्लेषण है (The Jurisprudence is the Scientific Synthesis of the essential principle of law)।'' **—एलेन**

विधिशास्त्र की उपर्युक्त परिभाषाओं का सार यही माना जा सकता है कि 'विधिशास्त्र 'विधि से संबंधित अध्ययन है, जिसका व्यापक ज्ञान एवं संशय-समाधान विधिशास्त्र की विभिन्न विचारधाराओं (Schools of Jurisprudence) के अध्ययन पर ही संभव है। यद्यपि विधिशास्त्र एवं विधि की संकल्पना इसकी विभिन्न विचारधाराओं में भिन्न-भिन्न प्रतीत होती है किंतु इस बात को लगभग सभी विचारधारओं ने स्वीकार किया है कि विधिक प्रणाली की उत्पत्ति रोम से हुई जिसका विकास 'आंग्ल विधिशास्त्र ' के रूप में हुआ और इसका बहुमुखी विकास विश्व की अनेक विधिक

प्रणालियों में देश की तात्कालिक स्थिति एवं आवश्यकता के अनुरूप हुआ, जिनका अवलोकन आगामी अध्यायों में किया जा सकता है।

विधि के स्त्रोत (Source of Law)

विधि के स्त्रोत का तात्पर्य विधि की उत्पत्ति से है। विधिशास्त्र की विभिन्न विचारधाराओं के विचारकों ने विधि की उत्पत्ति को अपने विधिक सिद्धांतों के परिप्रेक्ष्य में माना है। उदाहरणस्वरूप प्राकृतिक विधि के विचारकों ने विधि को ईश्वरीय एवं मानवीय दोनों माना है, तो ऑस्टिन ने इसे संप्रभु के आदेश के रूप में संप्रभु से उत्पन्न माना है। समाजशास्त्रीय विचारक सैविनी ने विधि का स्त्रोत लोक चेतना को माना है, तो धर्मशास्त्रीय रूप में वेद, कुरान और बाइबिल को विधि का स्त्रोत माना गया है। इन सर्वमान्यता एवं विभिन्नता के बीच विधिक परिप्रेक्ष्य में कुछ स्त्रोतों को विहित किया गया है, जिन्हें बिना किसी मतभेद के सर्वव्यापी रूप में स्वीकार किया जाता है। इनमें प्रमुख स्त्रोत निम्नलिखित हैं–

(1) रूढ़ि,
(2) पूर्व निर्णय, और
(3) विधायन।

विधि के गौण स्त्रोतों के अंतर्गत नैतिक आचार और साम्या तथा विशेषज्ञों की रायों को माना जाता है।

उपर्युक्त सर्वमान्य स्त्रोतों को निष्कर्षित करने के लिए विभिन्न विधिशास्त्रियों ने विधिक स्त्रोतों का वर्गीकरण भी किया है। सामंड ने विधि के स्त्रोत को दो वर्गों में विभाजित किया है–

(1) औपचारिक स्त्रोत (Formal Sources)
(2) तात्विक स्त्रोत (Material Sources)

सामंड के अनुसार, औपचारिक स्त्रोत वे हैं जिनसे विधि अपनी शक्ति और विधि मान्यता दोनों प्राप्त करती है और तात्विक स्त्रोत वे हैं जिनसे विधि अपने तत्व, जिससे वह निर्मित हुई है, को प्राप्त करती है। जैसे- रूढ़ि। पुनः सामंड ने तात्विक स्त्रोत को दो भागों में बांटा है–

(i) **विधिक (Legal)**–विधि के आधिकारिक (अव्यवहित) स्त्रोत इस श्रेणी में आते हैं। जैसे- अधिनियमित विधि (विधान), निर्णयज विधि (पूर्वनिर्णय), रूढ़िगत विधि और कन्वेंशन।

(ii) **ऐतिहासिक स्त्रोत (Historical Source)**- विधिक स्त्रोत से भिन्न स्त्रोत इस श्रेणी में आते हैं। जैसे-विधि लेखन, विदेशी निर्णय, निर्णय के प्रेरक तत्व इत्यादि। सामंड के अनुसार, ये स्त्रोत विधिक इतिहास से संबंधित होते हैं, न कि विधिक सिद्धांत से।

इसी प्रकार **ऑस्टिन** ने विधिक स्त्रोतों को तीन वर्गों में विभाजित किया है-

(i) प्रत्यक्ष तथा वास्तविक निर्माता,
(ii) ऐतिहासिक प्रलेख,
(iii) कारण।

हॉलैंड ने विधि के चार स्त्रोतों का वर्गीकरण किया है–

(i) साहित्यिक स्त्रोत,
(ii) औपचारिक स्त्रोत-राज्य,
(iii) कारण-रूढ़ि, प्रथाएं एवं धर्म इत्यादि, तथा
(iv) न्यायिक निर्णय, साम्या और विधायन।

सामंड के वर्गीकरण की आलोचना करते हुए कीटन ने अपना वर्गीकरण मुख्यतः दो रूपों में किया है–

(i) विधि के आबद्धकर स्त्रोत–विधान, पूर्वनिर्णय और रूढ़िगत विधि।

(ii) प्रेरक स्त्रोत-वृत्तिक राय, नैतिकता और साम्या के सिद्धांत।

वस्तुतः विधि के स्त्रोतों की व्याख्या इस रूप में की जानी चाहिए कि विधि का उद्गम कहां से होता है। प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष जिसने 'विधि' को प्रारूप प्रदान किया है। निस्संदेह उसमें रूढ़ि, पूर्वनिर्णय एवं विधायन मुख्य स्त्रोत के रूप में माने जाते हैं। शेष स्त्रोत गौण रूप में ही सही विधिक स्त्रोत के रूप में मान्य हो सकते हैं। डेल वेक्कियो ने तो मनुष्य की प्रकृति को ही विधि का स्त्रोत माना है। फिलहाल विधिक अध्ययन के रूप में रूढ़ि, पूर्वनिर्णयन और विद्यायन अति महत्वपूर्ण हैं।

1. रूढ़ि (Custom)

रूढ़ि उन प्रथाओं अथवा चलन को कहते हैं जिन्हें लंबे समय से अनुपालन के कारण विधि का बल प्राप्त हो गया है। यह व्यक्ति व समाज अथवा समाज व समाज अथवा राष्ट्र व राष्ट्र के बीच में हो सकता है। विधिक अनुभव दर्शित करते हैं कि विधि-निर्माण अथवा निर्णयज विधियों (पूर्वनिर्णयों) में रूढ़ि को महत्व प्रदान किया गया है, यदि उसमें रूढ़िगत तत्व विद्यमान पाए गए।

प्रकृति के अनुसार रूढ़ि को दो भागों में बांटा जा सकता है–

(i) बिना मंजूरी वाली रूढ़ियां-रूढ़ि जो अबाध्यकर होती हैं ऑस्टिन ने इसे विध्यात्मक नैतिकता माना है।

(ii) मंजूरी वाली रूढ़ियां-रूढ़ि जिन्हें राज्य द्वारा प्रवर्तित कराया जाता है और वे बाध्यकारी होती हैं। यह भी दो प्रकार की होती हैं–(1) विधिक रूढ़ियां-अर्थात्

(क) सामान्य रूढ़ियां-राज्य के समस्त क्षेत्र पर लागू।

(ख) स्थानीय रूढ़ियां-क्षेत्र विशेष में लागू रूढ़ियां।

2. कन्वेंशनात्मक रूढ़ियां–किसी करार के पक्षकारों को शासित करने वाली रूढ़ियां।

रूढ़ि पर विभिन्न विद्वान विधिशास्त्रियों ने अलग-अलग मत दिए हैं–

* सामंड के अनुसार- रूढ़ि ऐसे सिद्धांतों की अभिव्यक्ति है जिन्हें न्याय और लोकोपयोगिता के सिद्धांतों के रूप में राष्ट्रीय चेतना के तहत स्वीकार कर लिया गया है।

समाज के लिए रूढ़ि का वही महत्व है, जो विधि का राज्य के लिए। राज्य की विधि तथा न्याय व्यवस्था समाज की रूढ़ियों के अनुरूप होती है।

* सैविनी के अनुसार- रूढ़ियां लोगों की लोक-चेतना (Volkgeist) तथा राष्ट्र की इच्छा का प्रतीक होती हैं। रूढ़ि वास्तविक विधि का एक लक्षण है। इसका स्थान विधायन के पूर्व होता है।

* ब्लैकस्टोन के अनुसार– इंग्लैंड के कॉमन लॉ में रूढ़ियां भी सम्मिलित हैं और वे सामान्य विधि के भाग हैं।

रूढ़ि के आवश्यक तत्व

प्रत्येक रूढ़ि को विधि का बल प्राप्त नहीं होता है। केवल वे ही रूढ़ियां विधि का बल अर्थात् मान्यता प्राप्त करती हैं, जिनमें रूढ़ि के अनिवार्य तत्व विद्यमान होते हैं, जो निम्नलिखित हैं–

(1) प्राचीनता (Antiquity)- आंग्ल विधि में कोई रूढ़ि तब ही विधि मान्य होती है जब वह स्मरणातीत काल अर्थात् उस समय से जहां तक मनुष्य की स्मरण शक्ति जाती है, से अस्तित्ववान् होती है। सुविधा के लिए वहां रिचर्ड प्रथम का प्रारंभ काल अर्थात् 1189 ई. को मानक माना गया है अर्थात् रूढ़ियां निश्चय ही इस तिथि के पूर्व प्रारंभ हुई होनी चाहिए।

प्राचीन हिंदू विधि में भी मनु ने ऐसे ही तत्व को अनिवार्य माना था अर्थात् यह कि 'स्मरणातीत रूढ़ि श्रेष्ठ विधि है,' किंतु भारत में ऐसी कोई नियत तिथि नहीं है।

(2) निरंतरता (Continuance)- रूढ़ि का दूसरा मुख्य तत्व यह है कि उसका अनुपालन निरंतर होता रहा हो और समय के किसी भी बिंदु पर भंग न हुआ हो।

(3) निश्चितता (Certainity)- रूढ़ि को निश्चित भी होना चाहिए। अस्पष्ट अथवा अनिश्चित रूढ़ि को विधिक बल प्राप्त नहीं होता है। यह एक साक्ष्यिक नियम भी है।

(4) सुसंगतता (Consistency)- रूढ़ि को किसी अन्य स्थापित रूढ़ि से असंगत नहीं अपितु सुसंगत होना चाहिए। यदि दो रूढ़ियों के बीच में सुसंगता नहीं है, तो न्यायालय उसे अमान्य कर सकता है।

(5) युक्तियुक्तता (Reasonableness)- रूढ़ि युक्तियुक्त होनी चाहिए। एलेन के अनुसार, रूढ़ि जब तक अयुक्तियुक्त न हो, उसे स्वीकार किया जाना चाहिए। अर्थात 'युक्ति' के विरुद्ध रूढ़ि लागू नहीं हो सकती है।

(6) शांतिपूर्ण उपभोग (Peaceable Enjoyment) रूढ़ि तभी मान्य होगी जब कि उपर्युक्त तत्वों के साथ जन सामान्य के द्वारा उस रूढ़ि का शांतिपूर्वक उपयोग किया जा रहा हो। यदि उसमें व्यवधान आया हो, या उसका विरोध किया गया हो, तब वह अमान्य हो जाएगी।

(7) बाध्यकारी बल (Obligatory Force) - रूढ़ि में बाध्यकारी बल भी होना चाहिए। अर्थात् उसका अधिकारपूर्वक उपयोग किया गया हुआ होना चाहिए। यदि कोई रूढ़ि चोरी-छिपे या गुप्त रूप से होती रही हो, तो उसे बाध्यकारी बल वाली रूढ़ि नहीं माना जा सकता है।

(8) लोक नीति के अनुरूप (Confirmity with Public Policy)- कुछ विधिशास्त्री और अब न्यायालय भी यह मानते हैं

कि रूढ़ि को लोकनीति के विरुद्ध नहीं होना चाहिए। यदि ऐसा है तो न्यायालय उसे अमान्य घोषित कर सकते हैं।

(9) सांविधिक विधि से अनुरूपता (Comfirmity with stutute law)- किसी रूढ़ि को सांविधिक विधि के भी अनुरूप होना चाहिए। अधिकांश विधि प्रणाली इसे मान्यता प्रदान किए हुए हैं कि संविधि रूढ़ि को मान्यता प्रदान करती है, तो उसे निराकृत भी कर सकती है (आंग्ल विधि)।

प्रो. एलेन ने ''लॉ इन द मेकिंग'' में रूढ़ि को इस प्रकार अभिव्यक्त किया है :

''.....विद्यमान रूढ़ि विधि है। यदि इसे प्रश्नगत नहीं किया जाता है, तो यह देश की सामान्य विधि के रूप में प्रवर्तित होती है, यदि इसे चुनौती दी जाती है और इसे स्थानीय विधि के एक साधारण फेर-फार के रूप में विद्यमान साबित किया जाता है और आगे इसे किसी आधारभूत सामान्य विधिक सिद्धांत का उल्लंघन करता हुआ दर्शित नहीं किया जाता है, तो न्यायिक प्राधिकारी द्वारा 'युक्ति' विधि रूप में इसे मान्यता मिल जाती है।.....और यदि यह अभिनिर्धारित किया जाता है कि इसकी प्रवृत्ति अनिष्टकर है, तो न्यायालय द्वारा इसे निराकृत कर दिया जाता है और तब से इसमें बाध्यकारी बल नहीं रह जाता है।''

ऑस्टिन के अनुसार- रूढ़ि विधि का एक स्रोत है किंतु स्वयं यह कोई विधि नहीं है। रूढ़ि उस समय तक विध्यात्मक विधि नहीं होती जब तक कि इसे न्यायालय द्वारा ऐसा घोषित न कर दिया जाए या उसे किसी संविधि में शामिल न कर लिया जाए अर्थात् संप्रभु के आदेश में शामिल न कर लिया जाए। यदि ऐसा नहीं है, तो रूढ़ियां केवल एक विध्यात्मक नैतिकता ही होती हैं।

ग्रे के अनुसार- रूढ़ियां प्राय: न्यायिक विनिश्चयों से उत्पन्न होती हैं। अत: रूढ़ियां तब तक विधि नहीं होतीं जब तक उन्हें न्यायिक मान्यता नहीं मिल जाती है।

सैविनी के अनुसार- रूढ़ि अपने-आप में विधि है। यह अपना औचित्य स्वयं अपने में रखती है। यह विध्यात्मक विधि का एक पद चिन्ह है, उसकी उत्पत्ति का आधार नहीं। रूढ़ियां लोकमत (वाकजीस्ट) और राष्ट्रीय चरित्र पर आधारित होती हैं। इसलिए उनमें न्याय के वे सिद्धांत समाविष्ट होते हैं जिनको समाज मान्यता देता है। राज्य को उन्हें स्वीकार करने के सिवाय, कोई विवेकाधिकार या शक्ति नहीं है।

ऐतिहासिक विचारधारा के समर्थक मानते हैं कि ''रूढ़ि विधायन की पूर्वगामी होती है। अत: उससे श्रेष्ठ होती है तथा विधायन को रूढ़ि के सिद्धांतों के अनुरूप होना चाहिए।''

2. पूर्व-निर्णय (Precedents)

पूर्व-निर्णय का तात्पर्य, सामान्य विधिक भाव में, **पूर्व न्याय; नजीर** अथवा **दृष्टांत** से है। सामान्य प्रयोग में पूर्व-निर्णय को 'भावी आचरण का मार्गदर्शन करने वाला कोई निश्चित नमूना' के रूप में जाना जाता है। न्यायिक क्षेत्र में इसे **'भूतकालीन विनिश्चयों का भावी मामलों के लिए मार्गदर्शन करने'** के रूप में माना जाता है। **ऑक्सफोर्ड शब्दकोश** में पूर्व-निर्णय को इस प्रकार परिभाषित किया गया है–

''एक पूर्ववर्ती उदाहरण या मामला जो पश्चात्वर्ती मामलों के लिए एक दृष्टांत या नियम है या उसे उस रूप में माना जा सके या उन्हें न्यायोचित ठहराया जा सके।''

वस्तुत: जब कभी किसी वरिष्ठ न्यायालय के द्वारा दिए गए कोई ऐसे विनिश्चय, जो कोई नया नियम या सिद्धांत अधिकथित करते हैं, उक्त निर्णय भावी मामलों में न्यायिक विनिश्चय के लिए एक दृष्टांत बन जाते हैं और यदि कोई पश्चात्वर्ती न्यायालय उसको अपने निर्णय में अपनाता है या दृष्टांतस्वरूप ग्रहण करता है, तो वह पूर्व-निर्णय के रूप में जाना जाता है। यह चलन आंग्ल न्यायालयों के साथ विश्व के लगभग सभी सभ्य देशों के न्यायालयों में रहा है, जिसकी व्यापकता के कारण ही इसे विधि के एक स्रोत के रूप में मान्यता प्राप्त हुई, जो प्राचीन काल से लेकर आज तक अपना अस्तित्व बनाए रखे हैं।

चूंकि पूर्व-निर्णय का संबंध प्रत्यक्ष रूप से न्यायिक विनिश्चय से है। अत: पूर्व-निर्णय को कभी-कभी न्यायाधीश निर्मित विधि भी माना जाता है।

यद्यपि इसका विस्तार सीमित है और न्याय, साम्य, सदविवेक, अपकृत्य विधि, सामान्य विधि के रूप में प्रत्यक्ष: तथा प्रांङन्याय, पूर्व न्याय विधियों के निर्वचन तथा मानवाधिकारों के संरक्षण मामलों में इसे प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष दोनों रूपों में देखा जा सकता है।

कोक के अनुसार **'मोजेज' (Moses) प्रथम लॉ रिपोर्टर** था जिसने पूर्व-निर्णय को आधार प्रदान किया। पुन: आरेटरों ने रेस जुडिकेटा (प्रांङन्याय) को विधि के स्रोत के रूप में सम्मिलित किया। ऐसा माना जाता है कि बैक्टन ने अपने ग्रंथ में कम-से-कम

पांच सौ निर्देश दिए हैं। पुनः 14वीं शताब्दी से ईयर बुक्स का प्रकाशन प्रारंभ हुआ और तत्पश्चात् से ही पूर्व-निर्णय (विनिश्चित मामले) प्रामाणिकता ग्रहण करते गए, जो आगे चलकर पूर्व निर्णय के रूप में विख्यात हो गए तथा इसने आंग्ल विधि को एक नया आधार प्रदान किया। इसी क्रम में 'जब न्यायालयों का सोपान तंत्र स्थापित हुआ तो पूर्व-निर्णय ने अपना सर्वोच्च स्थान प्राप्त कर लिया।

पूर्व निर्णय के दो सामान्य नियम हैं–

(i) प्रत्येक न्यायालय अपने ऊपर के न्यायालयों के विनिश्चयों से आबद्ध हैं।

(ii) उच्चतर न्यायालय अपने विनिश्चयों से आबद्ध होते हैं।

आंग्ल न्यायालयों की शृंखला निम्न स्तर पर काउंटी कोर्ट अथवा मजिस्ट्रेट के न्यायालय से प्रारंभ होकर उच्च न्यायालय (क्वींस बेंच डिवीजन, चांसरी डिवीजन, प्रोबेट एंड अदर्स), कोर्ट ऑफ क्रिमिनल अपील (दांडिक अपील न्यायालय), कोर्ट ऑफ अपील (दांडिक से भिन्न अपीलें) और हाउस ऑफ लार्ड्स के न्यायालय (सर्वोच्च न्यायिक अभिकरण) तक स्थापित हैं।

पूर्व-निर्णय के नियमानुसार हाउस ऑफ लार्ड्स के न्यायिक विनिश्चय अपने निम्नतर सभी न्यायालयों पर आबद्धकर होंगे और हाउस ऑफ लार्ड्स के निर्णय स्वयं इस पर आबद्धकर होंगे। श्रेणी क्रम का यह अनुसरण भारतीय संदर्भ में भी समरूप है।

लंदन स्ट्रीट ट्रामवेज बनाम एल.सी.सी., 1898 A.C. 375 के वाद में यह कहा गया कि हाउस ऑफ लार्ड्स का विधि प्रश्न पर दिया गया कोई विनिश्चय बाद में हाउस ऑफ लार्ड्स के लिए अंतिम है, किंतु लोक नीति के प्रश्न पर इसकी अनिवार्यता पर प्रश्न चिन्ह लगाया गया और कुछ प्रख्यात न्यायाधीशों का मत रहा कि हाउस ऑफ लार्ड्स में उन मामलों में जिनमें लोक नीति का संबंध है, पूर्व-निर्णय को नहीं माना जा सकता। सामंड, पोलाक और गुडहार्ट जैसे विधिशास्त्री भी इसी मत के रहे।

अंततः **जुडिशियल प्रैक्टिस स्टेटमेंट, 1966** के द्वारा **निर्णीतानुसरण (Stare decisis)** की परिपाटी को उपांतरित कर दिया गया। यही स्थिति **प्रिवी काउंसिल (Privy Counsil)**, जो ब्रिटिश उपनिवेश के देशों की अपील सुनती थी, के निर्णय पर भी प्रभावी है। अब प्रिवी काउंसिल के निर्णय का सम्मान किया जाता है, किंतु ज्यों का त्यों अनुसरण नहीं। फिलहाल आंग्ल विधि में निर्णीतानुसरण का सिद्धांत इसका एक विशिष्ट लक्षण है और इसकी कठोरता को बहुत सीमा तक कम कर दिया गया है।

भारत में पूर्व निर्णय–भारत में पूर्व निर्णय का अनुसरण प्राचीन काल में छिट-पुट उल्लेख के सिवाय अज्ञात था। यही स्थिति मध्य काल में भी थी। देश में मुगल शासन एवं तत्पश्चात् ब्रिटिश उपनिवेश काल में ब्रिटेन के सिद्धांत यहां भी लागू रहे और न्यायालयों के श्रेणी क्रम की देश में स्थापना के साथ पूर्व निर्णय का अनुसरण भी प्रारंभ हुआ, जिसका सर्वोच्च न्यायालय प्रिवी काउंसिल था। भारत सरकार अधिनियम, 1935 के अंतर्गत एक संघ न्यायालय (Federal Court) की स्थापना की गई, जिसकी धारा 212 में निम्न उपबंध किया गया–

''संघ न्यायालय द्वारा और प्रिवी काउंसिल के किसी निर्णय द्वारा घोषित विधि, जहां तक वह लागू होने योग्य हो, ब्रिटिश भारत में समस्त न्यायालयों पर आबद्धकर रूप में मान्य की जाएगी और अनुसरण की जाएगी और जहां तक इस अधिनियम या उसके अधीन किसी ऑर्डर-इन-काउंसिल या किसी विषय के जिनकी बाबत संघ-विधान-मंडल को संघ में सम्मिलित राज्य में, राज्य के संबंध में विधियां बनाने की शक्ति प्राप्त है।''

इस प्रकार देश में संघ न्यायालय के विनिश्चय उसके नीचे के सभी न्यायालयों पर आबद्धकर थे। इसी प्रकार प्रिवी काउंसिल के निर्णय स्वयं संघ न्यायालय एवं उसके अधीनस्थ न्यायालयों पर आबद्धकर थे। वर्ष 1947 में देश की स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारत का संविधान, 1950 लागू होने पर संघ न्यायालय के अस्तित्व को देश के उच्चतम न्यायालय के रूप में बनाए रखा गया और देश के अन्य राज्यों में स्थापित उच्च न्यायालयों, सत्र न्यायालयों, मजिस्ट्रेटों के न्यायालयों को इसके अधीनस्थ रखते हुए **अनुच्छेद 141** में यह उपबंध किया गया कि ''उच्चतम न्यायालय के द्वारा घोषित विधि भारत राज्य क्षेत्र के भीतर सब न्यायालयों पर बंधनकारी होगी।'' यही स्थिति आज तक विद्यमान है।

इस संबंध में निम्न बातें महत्वपूर्ण हैं–

(1) उच्चतम न्यायालय के निर्णय देश के सभी उच्च न्यायालयों और उनके अधीनस्थ न्यायालयों पर आबद्धकर हैं।

(2) उच्चतम न्यायालय के वृहत्तर पीठ का विनिश्चय उसकी ही निम्नतर पीठ पर आबद्धकर होता है।

(3) उच्च न्यायालय के निर्णय उसकी अधिकारिता के भीतर सभी अधीनस्थ न्यायालयों पर आबद्धकर होते हैं।

(4) किसी एक उच्च न्यायालय का निर्णय किसी दूसरे उच्च न्यायालय के लिए केवल **प्रेरणात्मक (Persuasive)** हो सकता हैं किंतु **बाध्यकारी नहीं**।

(5) किसी उच्च न्यायालय की बृहद पीठ का निर्णय उसी उच्च न्यायालय की निम्नतर पीठ पर आबद्धकर होता है, किंतु यदि विनिश्चय समपीठ का है, तो उसके विरुद्ध मत नहीं अपनाया जा सकता है। तब मामले को विनिश्चय के लिए बृहद पीठ को सुपुर्द कर दिया जाएगा **(श्री भगवान बनाम रामचंद्र, AIR 1965, SC 1767)**।

(6) स्वतंत्रता प्राप्ति के पूर्व के संघ न्यायालय के निर्णय उपर्युक्त सिद्धांत के अनुसार तब तक बाध्यकारी होंगे जब तक कि उच्चतम न्यायालय के द्वारा उन्हें **उलट (Overruled)** नहीं दिया जाता है। यही स्थिति प्रिवी काउंसिल के निर्णय की भी है। इस संदर्भ में भारतीय संविधान का **अनुच्छेद 225** समर्थनकारी उपबंध करता है।

(7) उच्चतम न्यायालय स्वयं अपने निर्णय से आबद्धकर नहीं है और मामले का पुनर्विलोकन अथवा न्यायिक पुनर्विलोकन अथवा पूर्ण न्याय के लिए अपने निर्णय की समीक्षा कर उसे परिवर्तित कर सकता है किंतु पीठ की स्थिति का सम्मान किया जाएगा।

सारत: यह कि समान तथ्यों और विधि पर उच्चतम न्यायालय का कोई पूर्ववर्ती विनिश्चय परवर्ती मामले में उन विषयों पर न्यायालय पर आबद्धकर है **(कामलेश्वर बनाम कन्हैया लाल, AIR, 1975, S.C. 907)**। किंतु यह स्वयं समान पीठ के अपने विनिश्चय या संघ न्यायालय या प्रिवी काउंसिल के निर्णय से आबद्ध नहीं है।

पूर्व निर्णय के सिद्धांत–पूर्व निर्णय न्यायालीय विनिश्चय का विषय होने के कारण इस क्षेत्र में अपनाए जाने वाले सिद्धांतों का उल्लेख किया जाना अतिआवश्यक है। इस संबंध में निम्न सिद्धांत विचारणीय हैं–

1. आगमनात्मक एवं निगमनात्मक पद्धति (Inductive and deductive Method)–जब कोई मामला विनिश्चित करने के पूर्व न्यायाधीश अपने द्वारा या किसी वरिष्ठ न्यायालय द्वारा समान प्रकृति के पूर्व विनिश्चित मामलों का अवलोकन करते हुए, उस विशेष मामले से वे सामान्य नियम निकालते हैं और उन्हें अपने समक्ष के मामलों पर लागू करते हैं और तदनुसार उसको विनिश्चित करते हैं, तो इस प्रक्रिया को **'आगमनात्मक पद्धति'** कहा जाता है। इस पद्धति को ही पूर्व-निर्णय का आधार माना जाता है और इस प्रकार निष्कर्षित विधि (निर्णयज विधि) विधि के स्रोत के रूप में जानी जाती है। **इसकी प्रवृत्ति एक निर्णय से निर्णय की ओर होता है**।

किंतु जब न्यायाधीश मामलों को किसी संहिता, जो प्रश्नगत मामले में लागू है, में अधिकथित विधि के अनुसार ही निर्णय करता है और वह समान प्रकृति के पूर्व विनिश्चित मामलों का अवलोकन नहीं करता है तब इस पद्धति को **निगमनात्मक पद्धति कहते हैं। इसकी प्रवृत्ति संविधि या विधि से विनिश्चय की ओर होती है**।

2. निर्णयाधार और इतरोक्ति (Ratio decidendi and Obiter dictum)- निर्णयाधार का तात्पर्य है विनिश्चय का आधार अथवा विनिश्चय के लिए कारण। जबकि इतरोक्ति का तात्पर्य है विधि की कोई राय जो विनिश्चय के लिए आवश्यक नहीं है। **प्रो. गुडहार्ड** के अनुसार, ''न्यायाधीश एक पूर्वनिर्णय में तात्विक तथ्यों के आधार पर तथा अतात्विक तथ्यों के बहिष्कृत करने पर जिस निष्कर्ष पर पहुंचता है, वह **निर्णयाधार** है।''

प्राय: ऐसा होता है कि मामलों में कोई प्रश्न अंतर्भूत होता है जिनका सिद्धांतों के आधार पर उत्तर दिया जाना अपेक्षित होता है। उस मामले के तात्विक तथ्यों को ग्रहण करके तथा अतात्विक तथ्यों को बहिष्कृत करके न्यायाधीश के द्वारा उत्तर दिया जाता है। इस प्रकार जो निष्कर्ष निकलता है वह केवल उसी मामले में नहीं अपितु अन्य उन मामलों, जो आधारभूत बातों में विनिश्चित मामले के समान होते हैं, में भी प्रयोज्य होता है। यही सिद्धांत निर्णयाधार कहलाता है। पूर्णनिर्णय के प्रयोजन के लिए यही सिद्धांत प्रवर्तनीय होता है।

दूसरी तरफ उन विवाद्यकों में, जिनमें किसी सामान्य सिद्धांत के अवधारण की आवश्यकता नहीं होती है और प्रश्न का उत्तर उस विशिष्ट मामले की परिस्थितियों के आधार पर दिया जाता है और वह सामान्य प्रयोग के किसी सिद्धांत का अधिकथन नहीं करते हैं, उन्हें इतरोक्ति कहा जाता है। फिलहाल किसी मामले

के निर्णयाधार अथवा इतरोक्ति को पृथक करना एक कठिन कार्य माना गया है और इसी कारण पूर्व निर्णय की आलोचना भी की गई है।

चूंकि किसी पूर्ववर्ती विनिश्चय का निर्णयाधार ही पूर्व निर्णय के रूप में किसी पश्चात्वर्ती मामले में विधिक स्रोत के रूप में प्रवृत्त होता है। इसलिए यह पूर्णतया न्यायाधीश का ही कार्य है। संभवत: इसी कारण यह प्रश्न सृजित होता है कि क्या न्यायाधीश विधि का निर्माण करते हैं? इस निमित्त दो सिद्धांत प्रचलित हैं–

(1) घोषणात्मक सिद्धांत (Declaratory Theory)- इस मत के मुख्य समर्थक कोक, मैथ्यू, ब्लैकस्टोन, प्रो. हेमोड तथा कार्टर, लॉर्ड ईशर, स्क्रटन आदि हैं, जिनका मत है कि न्यायाधीश केवल विधि की घोषणा करते हैं, निर्माण नहीं। इनके अनुसार न्यायाधीश किसी विशिष्ट प्रश्न (विषय) पर विधि की खोज करते हैं और उसे घोषित करते हैं।

मैथ्यू के अनुसार, ''विधि निर्माण केवल राजा या संसद ही कर सकता है, कोई न्यायाधीश नहीं''। **लॉर्ड ईशर** ने सार रूप में कहा है कि–

''वस्तुत: न्यायाधीश निर्मित विधि जैसी कोई वस्तु नहीं है, क्योंकि न्यायाधीश विधि का निर्माण नहीं करते हैं.....।'' **स्क्रटन** के अनुसार ''न्यायालय विधि का प्रशासन करने के लिए बैठता है''।

2. निर्माणात्मक सिद्धांत

न्यायाधीश विधि का निर्माण करते हैं– बेकन, डॉयसी, ग्रे, सामंड आदि विधिशास्त्रियों का मानना है कि न्यायाधीश विधि का निर्माण करते हैं। **प्रो. डायसी** के अनुसार, ''इंग्लैंड की विधि का एक बड़ा भाग (सर्वोत्तम भाग) न्यायाधीश निर्मित विधि है अर्थात् वह उन विषयों से बना है, जो न्यायालयों के निर्णयों से लिए गए हैं।''

फिलहाल **सामंड** ने कुछ संतुलित दृष्टिकोण भी अपनाते हुए माना है कि 'पूर्व-निर्णय विधि का निर्माण करते हैं साथ ही इसकी घोषणा भी करते हैं। .....मूल पूर्व-निर्णय न्यायालयों द्वारा विधि का शासन करने के साथ ही विधि का विकास करने के अपने विशेषाधिकार के साशय प्रयोग के परिणाम हैं।'

सत्य है कि वस्तुत: न्यायाधीश प्रत्यक्ष विधि निर्माण नहीं कर सकते, विशेषकर उस विधि प्रणाली में जहां शक्ति पृथक्करणीयता का सिद्धांत लागू है, जैसे भारत। किंतु जहां विधि शून्य है अथवा विधिक रिक्तता है, वहां न्यायिक निर्वचन अथवा पूर्ण न्याय प्रदान करने के लिए न्यायाधीश तत्कालीन परिस्थितियों एवं उस विशिष्ट मामले के लिए विधि सृजन कर सकता है। ऐसा अनेक मामलों में भारत के उच्चतम न्यायालय के द्वारा किया गया है और अनेक बार विधायिका को उक्त निर्णय के आधार पर ही विधि निर्माण भी करना पड़ा है और तब तक के लिए वह विधि के रूप में प्रवर्तित भी रहा है।

इस संबंध में **केशवानंद भारती बनाम केरल राज्य, AIR 1973 SC 1463; मेनका गांधी बनाम भारत संघ, 1978 (1) SCC 248; डी.के. बसु बनाम पश्चिमी बंगाल राज्य, AIR 1997 SC 610; विशाका बनाम राजस्थान राज्य, AIR 1997 SC 3011; सेल्वी और अन्य बनाम कर्नाटक राज्य और अन्य, (2010) 7 SCC 263** आदि महत्वपूर्ण वादों का उल्लेख किया जा सकता है जिनमें न्यायालय के 'निर्णयाधार' आज तक मान्य हैं, यहां तक कि इतरोक्ति भी (श्रवण सिंह लांबा बनाम भारत संघ AIR 1995 SC)।

पूर्व-निर्णय पर विभिन्न विधिशास्त्रियों के मत

***सामंड**– ''एक पूर्व-निर्णय के अंतर्गत कही गई या की गई वह प्रत्येक बात सम्मिलित है, जो पश्चात्वर्ती आचरण के लिए एक नियम प्रस्तुत करती है''।

* ग्रे–''न्यायालय संविधि के मृत शब्दों में जीवन फूंकने का कार्य करते हैं। न्यायाधीश केवल विधि की खोज ही नहीं करते वरन वे विधि का निर्माण भी करते हैं।.....न्यायाधीश ही विधि के वास्तविक निर्माता हैं''। (नेचर एंड सोर्स ऑफ लॉ)।

***बेंथम**–''घोषणात्मक सिद्धांत की आड़ में न्यायाधीशगण विधायन के अधिकार को चुरा लेते हैं।.....जिस प्रकार एक व्यक्ति अपने कुत्ते के लिए विधि का निर्माण करता है, उसी प्रकार न्यायाधीशगण विधियों को निर्मित करते हैं''।